

## “गीता मे यज्ञ”

डॉ निरूपमा सिंह\*

श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने जीवन के अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त का उद्घाटन करते हुए कर्म का एक गहन अर्थ स्पष्ट किया तथा उस कर्म की उर्ध्वमुखी जीवन के साथ संगति बताई। वह सिद्धान्त है—“यज्ञ का सिद्धान्त”। यज्ञ है समष्टि के कल्याण के लिए निःस्वार्थ भाव से स्वधर्म समझकर किया जाने वाला कर्तव्यकर्म। यज्ञ कर्म में किसी भी प्रकार के सांसारिक आध्यात्मिक प्रतिदान की अपेक्षा नहीं होती। “इस लोक या परलोक में कुछ भी बदला लिए या चाहें बिना परार्थ के लिए किए हुए भी कर्म को यज्ञ कहेंगे।” गीता के अनुसार यदि हम यज्ञ को परिभाषित करें तो—“कर्तृत्वाभिमान एवं आसक्ति से रहित होकर किये गये सम्पूर्ण शुभकर्म को श्रीकृष्ण ने यज्ञ कहा”

*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।*

*तदर्थं कर्म कौन्तोय मुक्तं सबः समाचर ॥ २*

गीता में जिस यज्ञ को बताया गया है वह कर्म का प्रतिफल है। ऐसा कर्म जिसमें अधिक से अधिक जीवों का अधिक से अधिक क्षेत्र में कल्याण हो वह यज्ञ है। अर्थात् ऐसी सेवा जो समस्त प्रकार के बन्धनों एवं द्वन्द्वों से मुक्त होकर आत्म साक्षात्कार का कारण हो वह यज्ञार्थ कर्म है।<sup>३</sup> अपने कृत्यों का सम्बन्ध परमेश्वर से जोड़ना चाहिए कर्म यदि शुद्ध भावना से परिपूर्ण एवं सेवामय हो तो वह यज्ञ है।<sup>४</sup> यज्ञ नित्य कर्तव्य है। यज्ञ में त्याग का होना आवश्यक है। त्याग का तात्पर्य आसक्ति एवं कामनाओं का त्याग है। कर्तव्य कर्मों का त्याग नहीं। त्याग संसार से भागकर जंगल में वास करना नहीं। अपितु जीवन की प्रवृत्ति मात्र में त्याग का होना है।<sup>५</sup> श्री कृष्ण ने इस सम्पूर्ण सृष्टि चक्र की स्थिति यज्ञ पर ही निर्भर बताई है। और परमात्मा को यज्ञ में ही प्रतिष्ठित किया है।

*“अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्यन्यादन्नसम्भवः।*

*यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥*

*कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ॥*

*तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥*

भाव यह है कि सब प्रकार से प्राणियों की उत्पत्ति, वृद्धि और पोषण का

हेतु अन्न है। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। मनुष्य द्वारा किए हुए कर्तव्य पालन रूप यज्ञ से ही वृष्टि होती है। यज्ञ विहित कर्म से उत्पन्न होता है। अर्थात् बिना शास्त्र विहित क्रिया के किसी भी यज्ञ की सिद्धि नहीं होती है। मनुष्य को कौन सा कर्म किस प्रकार करना है इस बात को वेद और शास्त्रों द्वारा समझकर जो विधिवत् क्रियाएं की जाती हैं उन्हीं से यज्ञ सम्पादित होता है। अतः यज्ञ के सम्पादन के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वकर्तव्य का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। और वह वेद 'अक्षर से उत्पन्न होता है। वेद को अक्षर (परमात्मा) से उत्पन्न होने का आशय यहाँ वेद को सृष्टि के आदिकाल में परमेश्वर से प्रकट होने और प्रलय काल में उन्हीं में विलीन होने से है।

इस प्रकार यह सृष्टि चक्र चलता रहता है। परमात्मा सर्वव्यापी होने पर भी कर्तव्य कर्म रूप यज्ञ में नित्य विद्यमान है। इस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण ने यज्ञ रूप स्वधर्म की अवश्यकर्तव्यता सिद्ध की है। तथा उसे न करने वाले की निन्दा की है।

*‘एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।*

*अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ ६*

श्री कृष्ण कहते हैं “अर्जुन ! कर्मबन्धन केवल तब तक होता है जब तक कर्म को यथार्थ नहीं किया जाता है। प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजा की सृष्टि करके कहा, इस यज्ञ से तुम विकास करो, यह तुम्हें इष्ट की प्राप्ति कराए। तुम देवगण को तृप्त करो, देवगण तुम्हें तृप्त करें, परस्पर भावतृप्त होते हुए तुम दोनों श्रेय की प्राप्ति करो। यज्ञ से भावित होकर वे देवगण तुम्हें वांछित भोग देगे जो व्यक्ति उनके द्वारा दिये गये भोगों को उन्हें अर्पित किये बिना स्वयं भोगता है वह चोर है।”<sup>७</sup> आशय यह है कि यज्ञ के निमित्त किया गया कर्तव्यकर्म ही कल्याण प्रद है। यज्ञ कर्म एक ऐसा कर्म है जहाँ स्वार्थ का परित्याग एवं परार्थ के लिए मंगल की भावना होती है।

यज्ञ शब्द के अन्तर्गत यज्ञ दान, तप, होम, तीर्थसेवन, व्रत, वेदाध्ययन आदि समस्त शारीरिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक क्रियाएं आती हैं। यज्ञ दान और तप में कोई भेद नहीं, न ही सृष्टि समाज और शरीर में कोई भेद है। सब में एक ही तत्त्व की मात्रा है,

*“मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव”<sup>८</sup>*

गीता में श्री कृष्ण ने बारह<sup>९</sup> प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। ब्रह्मयज्ञ, भगवदर्पणरूपयज्ञ, अभिन्नतारूपयज्ञ, संयमरूपयज्ञ, विषयहवनरूपयज्ञ, समाधिरूपयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्यायरूपज्ञानयज्ञ, प्रणायामरूपयज्ञ, स्तम्भवृत्ति प्रणायाम रूप यज्ञ।

साधक यदि ममता, आसक्ति एवं फलेच्छा से रहित होकर उपर्युक्त साधनों का अनुष्ठान करता है तो वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है “सर्वेऽप्येते

\*सहायक अध्यापिका, रा0बा0इ0 कालेज नारी-बारी, इलाहाबाद

यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्याणः”। गीता में जिस यज्ञ का वर्णन है उसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी आते हैं। क्योंकि गीता में प्रतिपादित यज्ञ कर्तव्य कर्मों का वाचक है। अपने वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म, स्वभाव देश काल आदि के अनुसार प्राप्त सभी कर्तव्य कर्म यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं।<sup>10</sup> यज्ञ न करने वाला मनुष्य श्री कृष्ण के अनुसार चोर है—“यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।”<sup>11</sup> साथ ही वह पापी भी है “भुङ्क्ते ते त्वधं पापा ये पचन्यात्मकारणात्”।<sup>12</sup> आगे श्री कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ रूप कर्तव्य कर्म करने वाले के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

“यज्ञाशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वे किल्बिषैः।” गीता 3/13

यहाँ यज्ञाशिष्टाशिनः पद के द्वारा श्री कृष्ण ने प...च महायज्ञ को लक्ष्य किया है। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी इन पाँचों के सहयोग से ही सबकी पुष्टि हाती है। अतएव मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी प्राप्त करे, उसमें सबका भाग समझे।

अतएव यज्ञ का फल है सनातन ब्रह्म की प्राप्ति, कर्मबन्धन से मुक्ति। और यज्ञ न करने वालों को कोई भी लोक सुखप्रद नहीं होता है। इस सभी यज्ञों का सम्पादन श्री कृष्ण मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रिया द्वारा बताते हैं।<sup>13</sup> ऊपर वर्णित बारह प्रकार के यज्ञों में से श्री कृष्ण ने द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।<sup>14</sup> विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले साधन ज्ञानयज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। यदि कोई साधक आत्मसंयम, शास्त्रध्ययन, तत्त्वविचार और योग साधन आदि विवेक विज्ञान सम्बन्धित कार्यों में से कोई भी एक कार्य करता है तो वह श्रेष्ठ कार्य करता है। क्योंकि द्रव्ययज्ञ भी फलेच्छादि का त्याग कर ज्ञान पूर्वक किये जाने पर ही मुक्ति देता है।

गीता के 17वें अध्याय में श्री कृष्ण ने कहा है कि यज्ञ में श्रद्धा का होना आवश्यक है। सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। गीता में श्रद्धा को तीन प्रकार का बताया गया— सात्त्विकी, राजसी, तामसी।<sup>15</sup> श्रद्धा के तीन प्रकार के आधार पर गीता के 17वें अध्याय में पुनः श्रीकृष्ण ने यज्ञ के तीन भेद किए हैं— सात्त्विक यज्ञ, राजज्ञ यज्ञ, तामसयज्ञ।<sup>16</sup> इन तीनों में सात्त्विक यज्ञ ही सम्पादन करने योग्य है।

श्री कृष्ण नवें अध्याय में कहते हैं कि ऐसे मनुष्य जो भगवान की सर्वरूपता से अनभिज्ञ होकर वेदोक्त कर्मकाण्ड पर प्रेम एवं श्रद्धा रखकर पापकर्म से बचते हैं हुए सकामभाव से यज्ञादि कर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त करके स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं। परन्तु अपना पुण्य क्षीण होने के पश्चात् पुनः मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उनका आवगमन होता रहता है अतः मनुष्य जिस कर्म

को कर्तव्य रूप यज्ञ परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए अनासक्त भाव से करता है वह बन्धनकारी नहीं होता अपितु वह अन्तःकरण को शुद्ध करता है। जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य देवताओं को उन्नत करता है और देवता मनुष्यों को उन्नत करते हैं। एक दूसरों को उन्नत करते हुए मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त होता है—

“परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ” गीता 3/11

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समस्त यज्ञ में अनासक्त एवं श्रद्धा का होना आवश्यक है। बिना श्रद्धा के यज्ञ ‘असत्’ कहा जाता है। और यदि श्रद्धा तो हो पर अनासक्त भाव न हो तो वह आवगमन का कारण बनता है—

निष्कर्षतः गीता का यह यज्ञमय जीवन का आदर्श वस्तुतः आध्यात्मिक आदर्श है। जो कर्मकाण्डीय विधि विधान से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। गीता के अनुसार सम्पूर्ण भूतो में एक ही चेतन तत्त्व है। अतएव प्रत्येक कर्म का सम्बन्ध यदि चेतन तत्त्व से जोड़ा जाएगा तो कर्तृत्वभिमान का प्रश्न ही नहीं रहेगा। जिस कर्म में शुद्धता है, भावना की पवित्रता है, त्याग का भाव है, संग्रह का निषेध है लोक कल्याण की भावना है वह यज्ञ कर्म है। यज्ञ की विधायिका है स्वयं प्रकृति और इस यज्ञ के भोक्ता हैं स्वयं भगवान्—

“भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।” गीता 5/29

गीता में प्रतिपादित यज्ञ एक ऐसे साधक का यज्ञ है जिसका सम्पूर्ण कर्म विश्वात्मा के प्रति एक आहुति बन जाए, जिसे किसी भी फल की तनिक भी वांछा नह रह जाए, जिसे स्व का कोई बोध ही न हो, जिसके द्वारा किए गये सम्पूर्ण कर्म लोक मंगल की भावना से युक्त हो। वह कर्मयुक्त होकर भी कर्मयुक्त हो। इस प्रकार वह आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट होता हुए अन्ततः आत्मराग हो जाए। अस्तु प्रथम संस्था सृष्टि के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्कामभाव से पालन ही गीता का यज्ञ है।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- |  |                         |
|--|-------------------------|
| 1. गीता माता : महात्मा गांधी, पृ0 23         | 2. गीता — 3/9           |
| 3. वही                                       | 4. गीता प्रवचन, पृ0 113 |
| 5. गीता— 3/8                                 | 6. वही — 3/16           |
| 7. ह0माहेश्वरी, गीता का दिव्य सन्देश, पृ0 25 |                         |
| 8. गीता 7/7                                  |                         |
| 9. गीता 4/24,25,26,27,28,                    | 10. गीता दर्पण, पृ0 153 |
| 11. गीता 3/12                                | 12. वही 3/13            |
| 13. वही 4/32                                 | 14. वही 4/33            |
| 15. वही 17/2                                 | 16. वही 17/11,12,13     |